प्रवासी के गीत

श्री नरेन्द्र

ग्रन्थ संख्या—६२

प्रकाशक तथा विक्रेता
भारती-भण्डार
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

द्वितीय संस्करण
वि० २०००
मूल्य १।)

मुद्रक—
कृष्णाराम मेहता
लीडर प्रेस, प्रयाग।

वक्तव्य

(प्रथम संस्करण से)

'प्रवासी के गीत' में संगृहीत रचनाएँ आधुनिक हिंदी गीति-काव्य के उत्तरार्ध के अंतर्गत आती हैं। पूर्वार्ध के कवि प्रधानतः सौंदर्योपासक और असीम तथा अनंत के अनुरागी थे। सौंदर्योपासकों में से कुछ की रुचि काव्य की प्रकार योजना में नयेपन तथा विलक्षणता की ओर भी गई। असीम के उपासक बहुधा सीमाहीन में अपनी ऐहिक सीमाओं को भुला देने के लिए प्रयत्नशील रहे।

सौंदर्योपासक तथा असीमोपासक, दोनों में एक विशेष समानता थी। दोनों ही वास्तविकता से दूर हट कर अपने को कल्पनाजन्य स्वप्नों में भुलाते रहे। उनकी कटु आलोचना करना निस्सार है। हमें उनके मनोभावों को संक्रांतिकालीन सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में समझना चाहिए। ब्रिटिश सत्ता के कारण हमारे समाज में वर्गीकरण कुछ ऐसे ढंग से हुआ कि हमारे कवियों तथा अन्य साहित्यिकों को किसी भी वर्ग में स्थान न मिल सका। ब्रिटिश सत्ता के स्तंभ उच्च राजकर्मचारी, ऊँचे पेशवाले (बड़े वकील, डाक्टर, इंजिनियर) थोक माल ख़रीदने और बेचने वाले व्यवसायी और व्यापारी, राजा और नवाब, बड़े ज़मींदार और ताल्लुक़ेदार, ये सब आज के उच्च वर्ग में शामिल हैं। इनकी शिक्षा, संस्कार और जीवन-चर्या इन्हें इस योग्य नहीं रहने देते कि ये हमारे साहित्य की ओर कृपा-कटाक्ष कर सकें। मध्यवर्ग, जिसमें बेकार शिक्षितों और कवियों और लेखकों की भी गणना होनी चाहिए, के अंतर्गत अदालती अहलकारों की श्रेणी से लेकर उच्च वर्ग की ओर ऊर्द्धमुख किंतु अपने सौभाग्य के कारण अंशतः

स्वयंसंतुष्ट सफल सांसारिक आते हैं। स्पष्ट है कि इन छिछले सांसारिक जीवों के बीच साहित्यिकों के लिए कोई स्थान नहीं। तब क्या कवियों के इंद्रधनुषी स्वप्नों और आध्यात्मिक आकाशकुसुमों के गुणग्राहक अकिंचन, पददलित, प्राकृत जनता में मिलेंगे, जब कि हमारी जनता को गला घोंटने वाली ग़रीबी और गुलामी के भार से साँस लेने तक की फ़ुरसत नहीं ! मध्यवर्ग के लोग जीवनयापन तो कर सकते हैं, संस्कृति और साहित्य से विमुख रह ही कर सही ; हमारी जनता को तो जीवित रहने के लिए भी जी जान सें कोशिश करनी पड़ती है। और सब वर्ग उसी के शोषण पर निर्भर हैं !

हमारे लेखक और कवि भी शोषक वर्ग के ही व्यक्ति हैं। अपने वर्ग में उनके लिए स्थान नहीं है तो इसका यह अर्थ नहीं कि उनके संस्कार और उनकी जीवन-चर्या तथा मनोवृत्ति वर्गगत नहीं हैं। जनता के लिए वे दुरूह हैं। जनता उनके अस्तित्त्व से भी अनभिज्ञ है। जनता में उनके गुण-ग्राहक कहां मिलेंगे ?

ऐसी अवस्था में कवियों का निराशावादी हो जाना स्वाभाविक था। निराशावादियों और नियतिवादियों के आगमन से हिंदी गीतिकाव्य का उत्तरार्ध शुरू होता है। उत्तरार्ध के कवियों पर कठोर वास्तविकता का अधिक स्पष्ट और प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है।

जिनकी दृष्टि अंतर्मुखी थी उन्हें सब हॉलोमैन, के रूप में दिखलाई पड़े और जिनकी प्रवृत्तियाँ वहिर्मुखी थीं उनके सामने 'वेस्टलैंड' का प्रसार था। स्वांगप्रेमियों को अपने से असंतोष हुआ और अपने से बाहर प्रेम तथा आह्लाद और उन्माद की मदिरा खोजने वालों को मिला एक निस्सार अवसाद। काव्याकाश में एक बारगी गहनतम अंधकार छा गया, जिसमें प्रकाश के नाम पर थे पल में जलने और बुझ जाने वाले कुछ जुगनू।

हम देखते हैं कि उत्तरार्ध का निराशावाद बराबर अधिक भीषण होता जाता है। इसका प्रधान कारण यही था कि बाहर भीतर के असंतोष के कारण कवि की प्रवृत्तियां उसके भीतर केंद्रीभूत होती गईं,

आहत अहंकार ने उग्र रूप धारण कर लिया और कवि निराशा से चीत्कार कर उठा।

कवि ने सत्य, शिव, सुंदर तथा प्रेम और आत्मानंद की अमरता के विषय में जो अर्घ्यनिरूपण किया वह सब निस्सार सिद्ध हुआ। प्रवासी के गीत' की रचनाओं में भी क्षय और ह्रास का यही क्रम स्पष्टतः दृष्टिगोचर होगा।

यह स्वाभाविक है कि जब व्यक्ति को अपनी प्रवृत्तियों के व्यक्तीकरण के साधन बाहर समाज में नहीं मिलते तब वह, जैसे बाहर ठोकर खाकर, अपने लिए अपने ही भीतर कामनाजन्य भावनाओं और कल्पनाओं का एक संसार बना लेता है। लेकिन कल्पना उसका कब तक साथ देगी ? शाम के रंगीन बादलों-सी यह कल्पना बालू की भीत सी भी तो नहीं है। उसकी आत्मचेतना उसके व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की विषमताओं से टकरा कर गतिरुद्ध हो जाती है और उसके अंतर में धुएँ की तरह घुमड़ने लगती है। जैसे जैसे वह आज मुझसे दूर दुनिया' का अनुभव करता है उसका अहंभाव और भी तीव्र गति से जाग्रत होता जाता है। हम देखेंगे कि आज के अधिकांश गीत (मैंने गीत का प्रयोग 'लिरिक' के अर्थ में किया है) 'मैं' या 'मेरे' से शुरू होते हैं। साथ ही, कवि अपने को बराबर पहले से अधिक एकाकी के रूप में पाता है। 'निशा-निमंत्रण' से 'एकांत-संगीत'—यह क्रम केवल संयोगवश ही नहीं है।

इस प्रकार संक्षेप में और मोटे तरीक़े पर मैंने उत्तरार्ध के लिरिक-कवि की दयनीय अवस्था की ओर कुछ संकेत किया है। कला के मंदिर का यह पुजारी प्रेम, सत्य, शिव और सुंदर पर आक्रमण करने वाले आततायी सर्पों के साथ आमरण संघर्ष में संलग्न है। यह आधुनिक 'लाकून' क्या अपनी और अपनी कविता की रक्षा कर सकेगा ? यह निश्चित है कि जब तक वह व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की विषमताओं और उनसे प्रोत्साहन पाकर पैदा होने वाले अंतर के अविश्वास (भाग्यवाद) और दुःखवाद के दोनों विषधरों को

तोड़ न डालेगा तब तक वह अपने क्षयरोग का उपचार न कर सकेगा। उसे अपनी रक्षा करने के लिए सामाजिक और राजनीतिक प्रगति के साथ चलना होगा, दोनों क्षेत्रों में क्रांति उपस्थित करने के लिए उसे पूरा सहयोग देना होगा। एकाकी बने रह कर वह अपनी रक्षा न कर सकेगा। आज का संक्रांतिकालीन जीवन शाश्वत नहीं, केवल सामयिक है। 'जग बदलेगा, किन्तु न जीवन,' कहना भ्रांति है, क्योंकि जग के बदलने पर जीवन का बदल जाना अवश्यंभावी है। कवि सदा 'नीरोटिक' न रहेगा, वह सदैव विवश न रहेगा। उसके व्यक्तिगत जीवन में आज जो जन्म-मरण के चिरंतन प्रश्न हैं वे सदैव चिरंतन न रहेंगे। उसके व्यक्तिगत जीवन की विषमताएं, जिनके कारण 'मयूर व्याल पूँछ से जुड़े' हुए मालूम होते हैं, सदैव न रहेंगी। हाँ, प्रगति शर्त है। आज के कवि के दुःख शाश्वत नहीं। दुःख भी हमेशा साथ न देगा। अपने भ्रमवश आज कवि को जो 'युग युग की वाणी' मालूम होती है वह केवल 'युग की वाणी' है और वास्तव में वह 'युग-वाणी' के द्वारा ही युग युग को वाणी दे सकता है।

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि 'प्रवासी के गीत' एक क्षयग्रस्त युवक कवि के गीत हैं। अंतिम दो गीतों से शायद भ्रम हो कि उसके दुःख का अंत होगया, लेकिन वास्तव में बात ऐसी नहीं। 'डर न, मन!' कह कर उसने अपने आपको हिम्मत बँधाने की कोशिश की है, ठीक उसी तरह जैसे कोई बहुत डरा हुआ व्यक्ति निरुपाय होकर दोहराता है, 'कोई डर नहीं है!' अंतिम गीत के दोनों कपोत कल्पना के कोमल हाथों में थे। कवि को नई दुनिया बसती हुई मालूम हुई, लेकिन दूसरे ही क्षण, जैसे ही इस सलीम ने उस ओर दृष्टि फेरी उसने देखा उसकी दुनिया की रोशनी, उसकी कल्पना ने अपने हाथों से एक एक कर दोनों कपोत शून्य में उड़ा दिए। 'प्रवासी के गीत' का कवि आज भी 'मरघट का पीपल तरु' है। उसके जीवन की गति आज भी 'हृदय की कायरता' और 'मन की छलना' के सहारे चलती जाती है। मुक्ति उससे दूर है। वह मुक्ति का मार्ग जानता है

लेकिन फिर भी अपनी बेबसी का ग़ुलाम है। यह उसकी परवशता की चरमसीमा है।

किंतु यह निश्चित है कि जीवन के सत्य को काल नहीं खा सकता। व्यक्ति मिटेगा किन्तु समाज रहेगा। प्रकाश सदैव के लिए अंधकार का ग्रास नहीं बन सकता। आधुनिक हिन्दी गीतिकाव्य में भी प्रकाश की नई रेखाएँ दृष्टिगोचर हो रही हैं। एक वर्गमुक्त प्रगतिशील बुद्धिवादी के रूप में श्री सुमित्रानन्दन पंत का आगमन सौभाग्य का चिह्न है। श्री भगवती चरण वर्मा ने साहस के साथ जीवन की भीषण यथार्थता को चित्रित करने के लिए अपनी लेखनी को उठाया है। निराला जी और नवीन जी अपने अपने हिस्से के आघात-प्रतिघात सहते हुए साहस के साथ आगे बढ़े चले जा रहे हैं।

आधुनिक हिन्दी गीतिकाव्य निराशावाद से परिपूर्ण है, लेकिन उसके बारे में निराश होने की कोई ज़रूरत नहीं। युग बदलेगा, युग-धर्म बदलेगा और कवियों का स्वर भी अधिक स्वस्थ होगा।

प्रगतिवादी कवि को अपनी विरासत को भी सँभालना है। इसके लिए भी उसे अपने सीने पर कुंडली मार कर बैठे हुए सर्प जैसी निराशा को तोड़ डालना होगा, वरना आज का निराशावादी कवि समाज के शरीर में दर्द करते हुए 'एपेंडिक्स' की तरह निरर्थक हो जाएगा और उसके लिए समाज-शरीर में स्थान नहीं रहेगा।

'प्रवासी के गीत' का कवि अपनी दुर्गति का कारण जान कर भी प्रगति के स्वास्थ्यकर मार्ग पर चल सकेगा, यह संदिग्ध है; किंतु केवल इसी आधार पर उसके इन विचारों को निस्सार कह देना कदाचित अन्यायपूर्ण होगा, क्योंकि डूबता हुआ व्यक्ति ही पानी की गहराई को ठीक तरह से समझता है।

इस वक्तव्य में न भाषा का सौष्ठव मिलेगा और न सुसंबद्ध विचार-धारा ही, लेकिन आधुनिक हिंदी गीतिकाव्य पर जो अस्फुट विचार यहाँ पेश किए गये हैं, यदि उन पर हमारे कवियों ने कुछ भी ग़ौर किया तो काव्य-मंदिर की सीढ़ियों पर ठिठक कर खड़े हुए इस लेखक को

अत्यधिक हर्ष होगा। इस वक्तव्य की सौष्ठवहीन भाषा, असंबद्ध विचार-धारा और नीरसता के द्वारा मैं शायद युग-धर्म का ही पालन कर रहा हूँ।

पुस्तक के कवरपेज पर दिए गए चित्र के लिए मैं चित्रकार श्री सुधीर खास्तगीर तथा चित्र के स्वामी श्री रमेश के प्रति कृतज्ञ हूँ।

प्रयाग
२८-५-१९३९

नरेन्द्र

श्री सुमित्रानंदन पंत

को

क्रम

[१]

साँझ होते ही न जाने छा गई कैसी उदासी ?
क्या किसी की याद आई, ओ विरह-व्याकुल प्रवासी ?

अस्त रवि-सी हो गई क्या श्रान्त म्लान विलुप्त आशा ?
क्या अभी से सोच कल की ली बसा मन में निराशा ?

पड़ गई बुझते दिवस की भग्न उर पर म्लान छाया,
गेह जाते देख पक्षी या कहीं विश्राम भाया ?

ओ निराश्रित ! नियति-शासित ! व्यथित क्यों जब तक मही है,
धूलि-कण, तृण को सदा जो आसरा देती रही है ?

देख ऊपर कुन्द-तारक-पुञ्ज से नभ-उर खिला है,
जहाँ फूटे भाग्य-से घन को सदा आश्रय मिला है !

माधवी की गन्ध में हो अन्ध अब क्यों झपीं पलकें ?
याद आईं क्या प्रिया की सुरभि-सींची शिथिल अलकें ?

क्यों उदित-शशि-म्लान-मुख को देख अब छाई उदासी ?
विरह-विधुरा शशिप्रिया की याद आई क्या, प्रवासी ?

प्राण तन में हैं, हृदय में है प्रिया का ध्यान जब तक,
प्रवासी ! जीवित रहेगा तू सदा बन स्नेह-दीपक !

जल, प्रिया की याद में जल, चिर-लगन बन कर, प्रवासी।
स्नेह की बन ज्योति जग में, दूर कर उर की उदासी !

[अक्तूबर, १९३८

[२]

पगली ! इन क्षीण बाहुओं में कैसे यों कस कर रख लोगी ?

हो एक, एक क्षण को केवल
थे मिले प्रणय के चपल श्वास,
भोली हो, समझ लिया तुमने
सब दिन को अब गुँथ गए पाश,

स्वच्छंद सदा मैं मारुत-सा, वश में तुम कैसे कर लोगी ?

लतिकाओं के नित तोड़ पाश
उठते इस उपवन के रसाल,
ठुकरा चरणाश्रित लहरों को
उड़ जाते मानस के मराल,

फिर कहो, तुम्हारी मिलन रात ही कैसे सब दिन की होगी ?

मैं तो चिर-पथिक प्रवासी हूँ
था इतना ही निवास मेरा,
रोकर मत रोको राह, विवश
यह पारद-पद जीवन मेरा,

राका तो एक चरण, रानी ! पूनों थी, मावस भी होगी !

जीवन-भर कभी न भूलूँगा
उपहार तुम्हारे वे मधुमय,
वह प्रथम मिलन का प्रिय चुम्बन
यह अश्रु-हार अब बिदा समय,

तुम भी बोलो क्या दूँ, रानी ! सुधि लोगी, या सपने लोगी ?

[जनवरी, १९३७

[२]

आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे ?
आज से दो प्रेम योगी अब वियोगी ही रहेंगे !
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे ?

सत्य हो यदि, कल्प की भी कल्पना कर धीर बाँधूँ,
किन्तु कैसे व्यर्थ की आशा लिए यह योग साधूँ ?
जानता हूँ अब न हम तुम मिल सकेंगे !
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे ?

आयगा मधुमास फिर भी, आयगी श्यामल घटा घिर,
आँख भर कर देख लो अब, मैं न आऊँगा कभी फिर !
प्राण तन से बिछुड़ कर कैसे मिलेंगे ?
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे ?

अब न रोना, व्यर्थ होगा हर घड़ी आँसू बहाना,
आज से अपने वियोगी हृदय को हँसना सिखाना,
अब न हँसने के लिए हम तुम मिलेंगे !
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे ?

आज से हम तुम गिनेंगे एक ही नभ के सितारे,
दूर होंगे पर सदा को ज्यों नदी के दो किनारे,
सिन्धु-तट पर भी न जो दो मिल सकेंगे !
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे ?

तट नदी के, भग्न उर के दो विभागों के सदृश हैं,
चीर जिनको विश्व की गति बह रही है, वे विवश हैं,

एक अथ-इति पर न पथ में मिल सकेंगे।
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे?

यदि मुझे उस पार के भी मिलन का विश्वास होता,
सत्य कहता हूँ न मैं असहाय या निरुपाय होता,

किन्तु क्या अब स्वप्न में भी मिल सकेंगे?
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे?

आज तक किसका हुआ सच स्वप्न जिसने स्वप्न देखा?
कल्पना के मृदुल कर से मिटी किसकी भाग्य रेखा

अब कहाँ सम्भव कि हम फिर मिल सकेंगे!
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे?

आह, अन्तिम रात वह, बैठी रहीं तुम पास मेरे,
शीश कंधे पर धरे घन-कुन्तलों से गात घेरे,

क्षीण स्वर में कहा था, 'अब कब मिलेंगे?'
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे?

'कब मिलेंगे?' पूछता मैं विश्व से जब विरह-कातर,
'कब मिलेंगे?' गूँजते प्रतिध्वनि-निनादित व्योम-सागर,

'कब मिलेंगे?' प्रश्न, उत्तर 'कब मिलेंगे?'
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे?

[जनवरी, १९३७

[४]

सुमुखि ! तुमको भूल जाना तो असम्भव है, असम्भव !

विरह-कातर देख मुझको, छलछलाये लोचनों से
विदा दे तुमने कहा था, 'प्राण, मुझको भूल जाओ !'
नींद में तो स्वप्न हैं ही, मृत्यु की भी कौन जाने,
हृदय के वासी ! तुम्हें कैसे भुलाऊँ, तुम सिखाओ ;
भूल सब कुछ भूल जाना अब असम्भव है, असम्भव !

क्यों न जाने मुझे बरबस याद आती है मिलन की
नाच उठती है दृगों में स्वप्न बन संयोग-वेला,
जब कभी कुछ देर बहलाने व्यथित व्याकुल हृदय को
गिन गगन के तारकों को आह भरता हूँ अकेला !
सत्य होना किन्तु सपनों का असम्भव है, असम्भव !

कल्पना के चित्र भर भीतर कभी भीगे पलक जब
थक प्रतीक्षा में निमिष भर नींद में मुँदते अचानक,
क्या तुम्हीं आतीं सपन बन पोंछने को अश्रु मेरे—
चूमने को ओस के मोती उषा-सी अरुणचम्पक !
सूखना इन आँसुओं का पर असम्भव है, असम्भव !

आँसुओं का अर्घ्य दे देकर तुम्हारा नाम जप कर
मूर्ति मन में बनाकर, सुकुमारि, तुमको पूजता हूँ,
गले मिल मिल कर बिछुड़ने की विगत वह बात तुम से
आज मैं निरुपाय कोसों दूर बैठा सोचता हूँ,
किन्तु वह मधु-मिलन भी अब तो असम्भव है, असम्भव !

विश्व में अपवाद हूँ, उपहास हूँ निष्ठुर समय का
हथकड़ी-बेड़ी बना दीं नियति ने सब कामनाएँ,
दीन बन्दी हूँ, सुमुखि, पर भृकुटि सञ्चालन करो तो
तोड़ सकता हूँ निमिष में विश्व की सब शृंखलाएँ,
टूटना पर प्रेम-बन्धन का असम्भव है, असम्भव!

तुम हृदय में बसी हो तो मैं, कहो कैसे अकिञ्चन?
त्याग सकता हूँ सकल ब्रह्माण्ड को, ज्यों धूलि का कण,
अन्य भौतिक बन्धनों को तोड़ सकता हूँ बिना श्रम,
देह होगी ही विसर्जन धूलि में मिल राख का कन,
त्यागना इस साधना का पर असम्भव है, असम्भव!

चारु पथ वह विश्व में विख्यात जो आकाश-गंगा,
प्रेमियों के चरण छू जो हो रहा उज्ज्वल निरन्तर,
जहाँ प्रेमी चिर-मिलन-वरदान पाते हैं बिछुड़ कर
वहाँ हम तुम भी मिलेंगे बन्धनों से मुक्त होकर,
तब! विलग रहना निमिष भर भी असम्भव है, असम्भव!

[जुलाई, १९३६

[५]

याद जब आए तुम्हें मेरी, सुनयने !—
व्यर्थ भर लाना न लोचन !

आज की भीषण दुपहरी में सहम कर
सो रहा होगा सकल संसार, केवल
जागती होगी तुम्हीं, या बाहु फैला
विकल होगा सामने का वृक्ष पीपल !
देख चलदल के चमकते पत्र कम्पित,
व्यर्थ भर लाना न लोचन !

गृहिणियों के हेतु ले धन-धान्य आती
हो नगर की ओर जब गोधूलि-बेला,
देख पाओ यदि कदाचित क्षितिज तट पर
कहीं मिटता धूलि का बादल अकेला,
सुधि न लाना इस प्रवासी चिर पथिक की,
व्यर्थ भर लाना न लोचन !

फिर धधक बुझ जाय जब दिन की चिता भी,
अस्थिफूलों-से खिलें जब शून्य नभ में कुन्द-तारक,
देख पाओगी कदाचित् तब, किसी आतुर हृदय-सा,
अश्रु-सा कम्पित नयन में, व्योम में उद्विग्न लुब्धक* !
ध्यान कर तब किसी मिलनातुर पथिक का
व्यर्थ भर लाना न लोचन !
याद जब आए तुम्हें मेरी, सुनयने !
व्यर्थ भर लाना न लोचन !!

[जून, १९३८

---

* एक तारक विशेष जो सब से ज़्यादा उबउबाता हुआ मालूम होता है।

[६]

क्यों भर भर लाती हो लोचन ?
नेह-निर्झरी ! क्यों पल पल पर, भर भर लाती हो युग लोचन !

नयन-मीन ये क्या पल भर भी
अश्रु-नीर बिन जी न सकेंगे ?
मेरे अंतरतम के दीपक
वे क्या जल बिन जल न सकेंगे ?
कहो, आँसुओं का क्या आशय ? क्यों भर भर लाती हो लोचन !

उर में कैसी व्यथा धधकती,
जिसे बुझाने नयन बरसते
वे क्या प्राणों के आकुल चातक
दृग-जल बिन दिन-रैन तरसते
कैसी प्यास !—बुझाने जिसको भर भर लाती हो युग लोचन !

कमलनयनि ! क्यों कमल तुम्हारे
डूबे रहें सदा दृग-जल में ?
कभी नहीं देखे सरसी में
डूबे हुए कमल जल-तल में ?
उर में कैसी पीर उमड़ती ?—क्यों भर भर आते हैं लोचन !

कौन कहे, कितने युग, कब तक
तुम्हें प्रेम में तपना होगा ?
अब उन मीनों को समझा दो
बिना नीर भी जीना होगा !
प्राण ! व्यर्थ होगा यह रोदन, क्यों भर भर लाती हो लोचन !

ये वह शोले नहीं, बुझादे
जिन्हें सतत अविरत जल-धारा,
अपने ही उर से पूछो, प्रिय!
नयन-नीर का कौन सहारा?
साथ नहीं देंगे आँसू भी, क्यों भर भर लाती हो लोचन?

अमर लगन के इन दीपों को
जल कर सदा जलाना होगा,
घुल घुल कर तिल तिल मिट मिट कर
प्राणों को सुलगाना होगा;
जल ज्वाला का मेल नहीं, प्रिय, क्यों भर भर लाती हो लोचन?

यदि नयनों के कमल डुबाने
उमड़ें भी मानस में सागर,
जल में मग्न न होने देना
उन्हें, धैर्य की नाल बढ़ा कर,
पर तुम तो बरबस बेबस-सी, भर भर लाती हो युग लोचन!

है दो दिन का दर्शन-मेला
विवश, नियति-शासित यह जीवन,
दृष्टि न धुँधली कर लो रोकर
मिले आज क्षण भर जब लोचन,
पर क्यों?—किस भावी के भय से भर भर लाती हो युग लोचन?

मधुर मिलन के दिन क्यों तुमने
आज पराजय-साज सजाया?
यह नीहार-हार दृग-जल का
क्यों उर का शृंगार बनाया?
क्यों विधु-वदन छिपा जलधर में, भर भर लाती हो युग लोचन?

स्वर्ण-पींजड़े के ओ पंछी !
क्या मैं भी परतंत्र नहीं हूँ ?
क्या मैं भी अब केवल साँसों
से संचालित यंत्र नहीं हूँ ?
क्यों मेरा धीरज हरने को भर भर लाती हो युग लोचन !

मेरे प्राणों का पंछी भी
बंदी है अपने ही घर में,
सदा धधकता है अँगार-उर
बंद पसलियों के पंजर में,
मेरी ज्वाला को भी देखो,—क्यों भर भर लाती हो लोचन !

तुम्हीं बताओ, कैसे देखूँ
निर्निमेष करुणाकुल चितवन ?
कैसे, कब तक देख सकूँगा
सजल, विकल, विस्फारित लोचन ?
कहो, खुली अलकों की माया ! क्यों भर भर लाती हो लोचन !

रोको अपनी अश्रु-धार अब,
अब टूटे सब बाँध हृदय के,
रुद्र-रूप धर उमड़ पड़ेंगे,
फिर न रुकेंगे सिन्धु प्रलय के;
क्यों समस्त संसार डुबाने, भर भर लाती हो युग लोचन ?
क्यों भर भर लाती हो लोचन ?

[सितम्बर, १९३८

[७]

आह, कैसे कर सकूँगा, प्रिय, तुम्हारा विस्मरण मैं?
तुम्हीं तो तरणी बनोगी मृत्यु-तम-सागर-तरण में!

पार वैतरणी करूँगा नाम मैं लेकर तुम्हारा,
फिर तुम्हीं कर पकड़ पंकिल तीर पर दोगी सहारा!
आज भी नभ-शून्य उर में नीलिमा हो नेह की तुम,
तुम्हीं सायंप्रात बिखरातीं कभी रस-हास कुंकुम!

हो बसी, सौदामिनी तुम ही सतम अन्तःकरण में!
आह, कैसे कर सकूँगा, प्रिय, तुम्हारा विस्मरण मैं?

खोल घूँघट साँझ होते ही लजीली माधवी जब
श्रान्त जग को सुला देती है पिला निज श्वास-सौरभ,
उमड़ती है सुधि तुम्हारी, प्राण, तब मेरे हृदय में,
सिसकियों में, अश्रु में, निश्वास में, फिर गीत-लय में!

खोजता हूँ तुम्हें नभ के दीप ले निशि-जागरण में!
आह, कैसे कर सकूँगा, प्रिय, तुम्हारा विस्मरण मैं?

याद है? दृग सँग मिले थे, युग हृदय भी संग खोए,
सँग रहे, हम संग बिछुड़े, सँग हँसे थे, संग रोए,
आज कोसों दूर हैं पर जाग हम सँग-सँग निशा में
देखते असहाय होंगे संग ही नभ की दिशा में!

जल रहे हैं दीप दो संग विरह-तम के आवरण में !
आह, कैसे कर सकूँगा, प्रिय, तुम्हारा विस्मरण मैं ?

प्राण ! तुम मेरे लिए क्या हो, तुम्हें कैसे बताऊँ ?
नहीं जाना स्वयम् मैंने ही, तुम्हें किस आसन बिठाऊँ !
विश्व-तम में ज्योति-कण को किन्तु मैं पहचानता हूँ,
मैं तुम्हारा, और तुम मेरी, यही बस जानता हूँ !

जानता हूँ दृढ़ रहेगी प्रीति मेरी श्रीचरण में !
आह, कैसे कर सकूँगा, प्रिय, तुम्हारा विस्मरण मैं ?

क्रीत दासी, स्वामिनी, आराध्य हो, आराधिका भी,
प्राण-मोहन कृष्ण हो तुम, शरण-अनुगत राधिका भी,
सहचरी हो, भार्या हो, वन्दनीया अम्बिका भी
भक्ति की कृति हो स्वयम् फिर भक्त की प्रतिपालिका भी !

है मुझे विश्वास, रक्खोगी सदा अपनी शरण में !
आह, कैसे कर सकूँगा, प्रिय, तुम्हारा विस्मरण मैं ?

इन्द्रियों के ज्ञान से, अन्तःकरण के ध्यान से भी
हो परे तुम कल्पना के व्योम-रत अनुमान से भी,
देवि, यद्यपि दृश्य हो तुम, देह भी धारण किए हो,
नाम, गुण औ' रूप से सम्बन्ध - बन्धन से परे हो !

हो अजर तुम काल-क्रम में, हो अमर जीवन-मरण में !
आह, कैसे कर सकूँगा, प्रिय, तुम्हारा विस्मरण मैं ?

यदि तुम्हारे स्नेह के अनुरूप कुछ शुभ शब्द पाता,
प्राण, तब मैं हृदय से अनुराग के कुछ गीत गाता,
किन्तु सीमाबद्ध हैं सब, कल्पना, अनुभूति, भाषा,
वन्दना में सफल हूँगा, हो मुझे किस भाँति आशा ?

यत्न करता हूँ सफल हूँ प्रेरणा के अनुकरण में!
आह, कैसे कर सकूँगा, प्रिय, तुम्हारा विस्मरण मैं?

प्राण! बढ़ता आ रहा है अन्धकार अभिन्न प्रतिपल,
चित्र चिर-परिचित दृगों से हो रहे हैं नित्य ओझल,
अब नहीं क्षमता नए रँग ले नई रेखा सजाऊँ,
मैं तुम्हारी मधुर सुधि के योग्य बन जीवन बिताऊँ!

दो यही वरदान, खोजूँ मैं तुम्हें निज आचरण में!
आह, कैसे कर सकूँगा, प्रिय, तुम्हारा विस्मरण मैं?

[अक्तूबर, १९३७

[८]

आज उज्ज्वल चाँदनी को दिन समझ कर
सो नहीं पाते विकल खग
प्राण, जैसे स्वप्न को ही सच समझ कर
नींद से हूँ मैं गया जग !

पूर्णिमा है, रात आधी, शीश पर शशि-बिम्ब आया
पेड़ के पैरों पड़ी अब, घूम फिर कर श्रान्त छाया !
मैं विजन के वृक्ष-सा ही, शशि-सदृश तुम दूर हो चिर,
किन्तु मेरे भाव छाया-से नहीं अब भी हुए थिर !

दूर हैं वे चरण पावन, मैं निराश्रित बिना साधन,
ग्रथित सुधि के सिन्धु में अब भ्रमित भँवरों में हुआ मन,
थक गया हूँ, चाहता हूँ, लूँ कहीं विश्राम क्षण भर,
किन्तु पैरों में गिरूँ किसके तुम्हें मैं छोड़, सुन्दर ?

दूर हो तुम, दूर ही से भेजतीं निस्सार सपने,
व्यर्थ हैं पर स्वप्न मिथ्या, दो बढ़ा श्रीचरण अपने,
अचिर सपनों का करूँ क्या जाग जिनको भूल जाऊँ ?
नींद दो जिससे जगूँ, निजको अकेला ही न पाऊँ !

मैं अकेला, देख शशि को आह भर कर
जागता हूँ, सो रहा जग !
किन्तु किस अज्ञात की पद-चाप सुन कर
कर उठे अब रव जगे खग ?

[मार्च, १९३७

[६]

क्यों ऐसी निठुर हुईं, रानी ! सपनों में भी आना छोड़ा ?

दिन भर के कार्य-भार से थक
क्षण भर मुँदते जब थके पलक,
कोई तन्द्रा का चीर झटक
देता खुलते लोचन अपलक !
मिट जाते मधुर चित्र बनते-
बनते तन्द्रालस अन्तर में,
सर के उद्वेलित दर्पण के
छाया-चित्रों से पल भर में,

गिरता कर से मधु का प्याला जो अभी भरा थोड़ा थोड़ा !
क्यों ऐसी निठुर हुईं, रानी ! सपनों में भी आना छोड़ा ?

वह उचटी नींद न आई फिर
ऐसी बिछुड़ीं फिर मिलीं न तुम,
तुम ऐसी बिछुड़ीं चरणों के
नख-नखत बने आकाश-कुसुम !
आओगी स्नेह-स्वप्न में तुम—
आशा में जगते कटी रात;
गिनते-गिनते चुक गए नखत,
पद-पद्म-ध्यान में हुआ प्रात;

तुमने मुझसे, इन नयनों से निद्रा ने भी नाता तोड़ा !
क्यों ऐसी निठुर हुईं, रानी ! सपनों में भी आना छोड़ा !

[जुलाई, १९३७

[१०]

मिल गए उस जन्म में संयोगवश यदि
क्या मुझे पहचान लोगी ?

चौंक कर चञ्चल मृगी-सी धर तुरत दो चार चल पग
कहो प्रिय, क्या देखते ही खोल गृह-पट आ मिलोगी ?
खुली लट होंगी तुम्हारी झूमती मुख चूमती-सी
कहो प्रिय, क्या आ ललक कर पुलक आलिङ्गन भरोगी ?

कहो, क्या इस जन्म की सब लोक-लज्जा
प्राण, मेरे हित वहाँ तुम त्याग दोगी ?

जब विरह के युग बिता युग प्रेमियों के उर मिलेंगे
कौन जाने कल्प कितने बाहु-बन्धन में बँधेंगे ?
कहेंगे दृग-अधर हँस-मिल अश्रुमय अपनी कहानी
एक हो शत कम्प उर के मौन हो होकर सुनेंगे ?

प्रलय होगी, सिन्धु उमड़ेंगे हृदय में
चेत होगा फिर नई जब सृष्टि होगी !
मिल गए उस जन्म में संयोगवश यदि
क्या मुझे पहचान लोगी ?

[मई, १९३७

[११]

चिर-विरह की इस अमा में, मैं शमा बन जल रहा हूँ !

भाव मेरे शलभ-चञ्चल,
कभी गीतों में सुलग, जल
खेलते जीवन-तिमिर से
चिर-विरह के ज्यों विकल पल,

विश्व कहता फुलझड़ी, मैं किन्तु प्रतिपल जल रहा हूँ !

सुहृद कहते, 'पंक्ति कैसी !—
मोतियों की सी लड़ी है,
सुरुचि-सूची से बिंधे हैं
शब्द, चुन चुन कर जड़ी है !'

किन्तु मोमी मोतियों-सा हूँ, पिघल गल जल रहा हूँ !

आह, दूरागत पथिक ! क्यों
सुखद लगता रूप मेरा ?
क्या नहीं मेरे लिए भी
है घिरा दश-दिशि अँधेरा ?

खोजने जाने किसे, मैं भी निरन्तर जल रहा हूँ !

है कहाँ अन्तर ? तुम्हारे
पग चपल, ये श्वास व्याकुल,
पग नियति की ओर,
तम की ओर मेरे श्वास आकुल,

तुम जहाँ तक पहुँचने को चल रहे, मैं जल रहा हूँ !

तुम उड़ाते धूलि चलते
धूम्र मुझसे भी उमड़ता,
आक्रमण प्रतिकूल झोकों के
पथिक क्या मैं न सहता ?
मृत्यु से मैं भी मचल, हिल हिल अनिल में जल रहा हूँ !

था मिला आश्रय, नियति ने
किन्तु झटका नेह-आँचल,
ताज मेरा बन गया है
उमड़ कर अपवाद-काजल,
किसी पश्चात्ताप के, अनुताप-सा ही जल रहा हूँ !

एक दिन तम में मिलूँगा
छोड़ कुछ पद-चिह्न अपने !—
अधजले-से पंख शलभों के,
हृदय के क्षार सपने !
यहाँ कुछ तो छोड़ जाऊँ, इसलिए ही जल रहा हूँ !

क्यों न जाने प्रश्न प्रतिक्षण
पूछता है हृदय रह रह,
'जल रहे हैं प्राण तेरे
या प्रिया की मधुर सुधि यह ?'
किन्तु अपनी आग को मैं सुधि समझ कर जल रहा हूँ !

[जून, १९३७

[१२]

रानी ! याद तुम्हारी आई ,
आईं याद प्यार की बातें ,
साँसें बनी विषम हथकड़ियाँ
कारागार बन गईं रातें !

कैसा था अद्भुत अपूर्व वह
महानन्द का एक अमर क्षण ,
विश्व भर गया था जब मधु से
क्षण भर का वह प्रेमालिङ्गन !

तीव्र श्वास, पुलकाकुल स्वेदित
शिथिल गात, मधुरात अचेतन ,
प्राणों में जब भेद नहीं था ,
एक हो गए थे दोनों तन !

प्रणय-अन्ध पुलकित बाहों के
भरे हुए दुहरे आलिङ्गन ,
आह, आज क्यों याद आ गए
कम्पित अधरों के वे चुम्बन !

रानी ! याद तुम्हारी आई
आईं याद प्यार की बातें ,
साँसें बनी विषम हथकड़ियाँ
कारागार बन गईं रातें !

दो फूलों के बीच खिची हैं
पत्थर की दीवारें, रानी !
सहनी पड़ती हैं प्राणी को
बधिर बधिक विधि की मनमानी !

किन्तु नहीं स्वीकार पराजय
कवि समर्थ है—सब सह लेगा,
वह अपना स्वामी, मधु अक्षय,
सुधि को तो विधि छीन न लेगा !

[नवम्बर, १९३४

[१३]

कुहुकती है कोकिला, नित, पर न अब मुझको किसी की याद आती !

देखता हूँ पल्लवित तरु
पर न अब आता हृदय भर,
अब न मन खोए हुए की
याद में रहता निरन्तर,

इस नशीली नींद से क्यों चेतना भी अब नहीं मुझको जगाती ?

जग वही है, किन्तु मैं ही
क्या न जाने हो गया हूँ ?
हाँ, कदाचित खो किसी को
मैं स्वयम् भी खो गया हूँ !

क्या इसी से वेदना भी उमड़ उर में अब न पहला ज्वार लाती ?

जानता हूँ, जी रहा हूँ,
दे न जग इसका उलहना;
हँस रहा हूँ भूल कर अब
मौन हो चुपचाप सहना,

यदि न हँसता, किस तरह उसको भुलाता और विस्मृति भी न आती ?

हूँ सदेह, विदेह होने
का नहीं मुझको वृथा भ्रम,
कर्म-बन्धन में ग्रथित हूँ
किन्तु इसका कुछ नहीं ग़म,

श्वास के पतवार, नय्या देह की है, और है कोई न साथी !

भूल सुख-दुख, भूत-भावी
भार अपना सह रहा हूँ,
भूल भव ; भय नियति - गति में
मैं अचञ्चल बह रहा हूँ,

अब न सुख की कल्पना भ्रम-भँवर बन कर पास आ मुझको लुभाती !

हो मिलन की आश जिसको
वह विरह का वेश धारे,
किंतु मेरी आश के सँग
मिट गए हैं क्लेश सारे !

आज तो सब की तरह हँस बोल कर दिन काटता हूँ, सुधि न आती !

[मार्च, १९३८

[१४]

नादान विश्व, नासमझ हृदय
मैं मान करूँ भी तो किस पर ?

थी केवल एक करुण चितवन
छू सकी सदा जो अन्तरतम,
खिल प्रकट हुए जिसके जादू
से मेरे उर के छिपे मरम !

मेरे मस्तक की क्षणिक शिकन
को भी पढ़ सकी वही चितवन,
वह देख सकी मेरी आँखों
में धूप-छाँह का परिवर्त्तन !

इस इतने बड़े अँधेरे-से
जग में थे केवल दो लोचन,
आँचल की ओट हँसे-रोए
जो मेरे सुख-दुख में प्रतिक्षण !

केवल वे ही पहचान सके
मेरी आँखों की भूख-प्यास;
उनसे न छिपाते थे रहस्य
मेरी आँखों के अश्रु-हास !

मैं आज दे रहा हूँ वाणी
जिन भावों को, लिख गीत मधुर,
है उनके हित भी चिर-कृतज्ञ
उन नयनों के प्रति मेरा उर !

पर उन्हें मुँदे अब युग बीते
मैं मान करूँ भी तो किस पर ?

रत्नाकर में जो रत्नदीप
हो चुके लीन, उनकी चितवन !
मैं दिखलाऊँ कैसे उनका
वह मणिधर-मोहन सम्मोहन ?

कवि-वेणु रीझती थी जिस पर
थी वह मायाविन मृगी कौन ?
क्या कहूँ आज वह विगत कथा ?
है उचित यही अब रहूँ मौन !

बस वही अकेली थी ऐसी
छिप सका न जिससे एक राज़ !
सह भी लेती थी इसीलिए
वह मेरे सब अन्दाज़-नाज़ !

उससे क्या छिपा रह सका कुछ—
मन, आत्मा या पार्थिव शरीर ?
हम दोनों ऐसे हिले-मिले
थे, जैसे चञ्चल जल समीर !

वह मुझे जानती थी जितना
जानेगी क्या शिशु को माता ?
फिर भी अब क्या बतलाऊँ मैं
था उसका मेरा क्या नाता ?

मेरी वह मायाविन न रही,
मैं मान करूँ भी तो किस पर ?

[जून, १९३८

[१५]

चाँदनी के चार दिन थे
मधु-मिलन के दिन हमारे !

कल्पना के इन्दु का प्रतिबिम्ब गति के चपल जल पर
देख कर हँसते रहे थे, आह, हम पूरे समय भर,
पर समय बहता रहा उन चल लहरियों में निरन्तर,
और हम बैठे रहे इस विश्व-सरिता के किनारे !

नियति के कर-सी उठी फिर एक व्यग्र अधीर लहरी,
खींच तट से ले चली मुझको निमिष भर भी न ठहरी,
पाश में भरने बढ़ी फिर चञ्चला-सी धार गहरी,
बह रहा हूँ आज जिसकी वक्र लहरों के सहारे !

नियति-शासित हो विवश यों था हमारा संग छूटा,
सह प्रहार कगार-सा वह मिलन का सुख-स्वप्न टूटा,
विकल जल पर इन्दु के प्रतिबिम्ब-सा ही भाग्य फूटा,
उड़ गए उडु-रूप नभ में स्वप्न के सामान सारे !

स्वप्नटूटा, बह गए क्षण, छिप गया वह चन्द्र चञ्चल,
होड़ जिससे लगा कर तुम खिलखिलाती रहीं प्रतिपल,
तिमिर छाया, और फिर हम तुम हुए अज्ञात, ओझल,
कहो, क्या फिर भी कभी, प्रिय, शशि-दरश होंगे तुम्हारे !

चाँदनी के चार दिन थे
मधु-मिलन के दिन हमारे !

[अक्तूबर, १९३७

[१६]

फिर भी तो जीना होगा ही!

इसलिए, हृदय, क्यों हो अधीर
फिर ध्यान तुम्हें उसका आता?
पागल! क्यों फिर से जोड़ रहे
हो आशा-छलना से नाता?

यदि यह सपना भी सच न हुआ,
फिर भी तो जीना होगा ही!
मन! तुम अधीर, मैं निराधार,
हूँ निराधार, पर क्या चारा?

पहले भी कितनी बार इसी
जीवन में हूँ जग से हारा!
यदि हुई हार इस बार मुझे,
फिर भी तो जीना होगा ही!

तुम पर, अपने पर ही न हुआ
तो होगा मेरा किस पर वश?
क्या होगा यदि हूँ भी हताश?
क्या हूँ साँसों से भी न विवश?

यदि मौत न आई अब के भी,
फिर भी तो जीना होगा ही!
क्यों कह उठते हो घबरा कर?—
'इन सुख-सपनों में आग लगे!

था सिर धुनना ही इष्ट मुझे
तो क्यों ये सोए भाग जगे ?'

पर सब दिन सिर धुनना भी हो,
फिर भी तो जीना होगा ही !

फिर सोच-फ़िकर क्यों, मूरख मन,
होना है जो कुछ होगा ही !
थे आगे भी सुख-दुख आए
उनको रो गाकर भोगा ही !

अब घड़ी, दो घड़ी रोए भी,
फिर भी तो जीना होगा ही !

[मई, १९३८

[१७]

बिदा, प्यारे स्वप्न, सुख के स्वप्न मेरे !
सान्ध्य घन-से, ओ सुनहले स्वप्न मेरे !

हँस लिया मैं हर्ष-सुख से सान्ध्य तारक-सा निमिष भर
अस्त होते सूर्य को ही आज भाग्योदय समझ कर !
स्वप्न था !—जय ने तिलक को ज्यों पुलक कर कर बढ़ाया
गिर गई रवि-स्वर्ण-थाली व्यग्र-खग-रव में खनक कर

जा, सुनहले स्वप्न मेरे ! घिर रहे हैं घन अँधेरे !
बिदा, प्यारे स्वप्न, सुख के स्वप्न मेरे !

आह, क्षण भर पूर्व जिस सुख-स्वप्न पर था सत्य निर्भर,
कर दिया क्यों शून्य में चित्रित क्षणिक वह लाख का घर ?
कल्पना का खेल था, संकेत था चल तूलिका का,
खेल था तेरे लिए जो रँग दिया वह शून्य अम्बर !

फिर उलट दी चित्रपट पर कालिमा, अल्हड़ चितेरे !
बिदा, प्यारे स्वप्न, सुख के स्वप्न मेरे !

बुझ गई है आग पश्चिम की सकल वसुधा जला कर,
राख के रँग की घिरी है रात मरघट-सी भयंकर !
किन्तु मेरी आग, उर की चिता अब भी जल रही है,
जल रही है चिता जब तक लौट क्यों जाऊँ बता घर ?

किन्तु जा, सुख-स्वप्न मेरे ! फिर मिलेंगे कल सबेरे !
बिदा, प्यारे स्वप्न, सुख के स्वप्न मेरे !

[मई, १९३८

[१८]

कह सकेगा कौन कड़वी बात ऐसी चाँदनी में ?
कौन सोचेगा असुन्दर बात ऐसी चाँदनी में ?
खिल उठे हैं जाग सब गहरी अँधेरी नींद से अब,
मन सुमन-सा, सुमन-सी यह रात ऐसी चाँदनी में !

बिम्ब किसका, ज्योति किसकी, आज रवि के शशि-मुकुर में !
बहुत दिन के बाद फिर आह्लाद कवि के मौन सुर में !
कौन-सी सम्मोहिनी, जिससे धरा चुपचाप सुनती—
आज छन-छन आ रही जो जीर्ण तरु-से भग्न उर में ?

देखता हूँ क्यों अनोखी बात मैं इस रात बन में ?
वृक्ष चलना चाहते हैं बँध गए पर ज्यों सपन में,
याद कर जैसे किसी की ठिठक कर जड़वत् खड़े हैं,
सोच में हैं सह न जाने कौन मृदु आघात मन में !

आज हँस हँस बस गई है मोहिनी निस्सीम जग में,
बिछा प्रतिपग मोह-माया-जाल-सी तरु-छाँह मग में !
है किसे अब चेत देखे भेद जग में, चाँदनी में,
किसे है अवकाश देखे खो गया आकाश खग में ?

कौन है, कैसे कहूँ मैं आज की इस चाँदनी में,
खो गई शशि की किरन भी देख जिसको चाँदनी में ?
देख सुखमा कल्पना भी पंख ज्यों फैला न सकती,
साँस भी रुकने लगी सौन्दर्य की इस चाँदनी में !

आज ऐसी चाँदनी में, प्राण, यदि तुम साथ होतीं,
जड़ धरा पर शशि-कलाएँ खिल सहज साकार होतीं !
आह, होतीं साथ यदि तुम चाँद यों सिर पर न चढ़ता
शून्य की सोलह कलाएँ दासियाँ बन पास होतीं !

श्वेत एकाकी कमल के अमल नीलम-मानसर में
घुल गया क्यों, आह, सूनापन अचानक निमिष भर में ?
याद क्यों आई मुझे उस विरह-विधुरा यक्षिणी की
कहीं होगी चाँद-सी एकाकिनी जो शून्य घर में ?

बहा अविरल अश्रु-धारा मोतियों से हर घड़ी रो,
आज सूजे और सूने नयन होंगे अश्रु-निधि खो,
आह, गिनने को न पा नक्षत्र ऐसी चाँदनी में
देखते आकाश को होंगे हताश उदास-से जो !

उन दृगों की याद क्यों आई मुझे इस चाँदनी में ?
थी कभी सुख-शान्ति जो, वह अब नहीं इस चाँदनी में !
विवशता की याद आई, लपट उट्ठीं, धुआँ उमड़ा,
आज जग में चाँदनी है, मैं नहीं पर चाँदनी में !

[दिसम्बर, १९३७

[१६]

जग में तो पूर्ण पुष्प-सी यह पूनों, मन आज खिन्न क्यों ?

आकर सुहासिनि किरनों ने मग में सुहावने अम्बर से
पग पग पर, तरु तरु के नीचे, रच दी छाया-प्रकाश-जाली !
ऊपर तरु-उर में पैठ रहीं सुधि-सी ही आ चञ्चल किरणें
शीतल शशि-कर छू पुलकित हो हिलती तरु की डाली-डाली !

प्रिय ! भग्न हृदय मेरा, देखो, तरु-छाया छिन्न-भिन्न ज्यों !
जग में तो पूर्ण पुष्प-सी यह पूनों, मन आज खिन्न क्यों ?

सौन्दर्य-सिन्धु में सूनेपन की प्रतिमा-सी, शशि-सी नभ में
तुम, मैं भू पर के विजन विपिन के तरु-सा ही अपलक उदास,
मैं जड़वत् अभिलाषा, आशा-सी दूर शून्य में हँसती तुम
जुड़-बिछुड़ प्राण सुधि-किरणों से, क्रीड़ित पग पग छाया-प्रकाश !

छाया-प्रकाश-से पृथक-पास हम आज अभिन्न-भिन्न यों !
जग में तो पूर्ण पुष्प-सी यह पूनों, मन आज खिन्न क्यों ?

[दिसम्बर, १९३७

[२०]

चञ्चल चकोर-से उड़ जाएँ लोचन पलकों के पंख खोल,
जो मिल जाओ तुम, चन्द्रमुखी !

नयनों की ऐसी अमर लगन,
कर एक निमिष में पार गगन,
जिन तारों को गिनते आए, ये उन्हें बना लेंगे हिंडोल !

आह्लाद-सिन्धु-सा बने गगन,
तारक-मीनों-से तिरें नयन,
फिर प्रणय-पूर्णिमा भी उमड़े, फैले अग-जग ज्योत्स्ना अमोल !
जो मिल जाओ तुम, चन्द्रमुखी !

यदि मिलो, प्राण, ये बनें मीन,
मानस-सर में हों नयन लीन,
चल लहरों पर बन चन्द्रकला, नाचें कर क्रीड़ा नृत्य लोल !

गूँथें लहरें भी चन्द्रहार
रच कर्णफूल को रजत-स्फार,
कर तुमको प्रतिबिम्बित, छाया-चुम्बित नाचें ज्योतित हिलोर !
जो मिल जाओ तुम, चन्द्रमुखी !

[सितम्बर, १९३७

[२१]

तुम चन्द्र-किरण-सी खेल रही हो मेरी चपल तरङ्गों में !

हो तुम्हीं रमी प्रत्येक पुलक,
प्रत्येक कम्प में, स्तर-स्तर में,
प्रत्येक तन्तु के तार खींच
विद्युत्-विलीन हो अन्तर में,

गुदगुदी गात में, सिहरन बन प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्गों में !
तुम चन्द्र-किरण सी खेल रही हो मेरी चपल तरङ्गों में !

पागल प्राणों को कर आकुल
नयनों के जादू से छूकर,
भर दिए धमनियों में सहसा
शतशः अजस्र पर्वत-निर्झर,

हैं नाच उठीं दश दिशा ! कौन-सा जादू उन भ्रू-भङ्गों में !
तुम चन्द्र-किरण-सी खेल रही हो मेरी चपल तरङ्गों में।

[मार्च, १९३८

[२२]

प्रिय, जाने कब आओगी तुम ?

निशि-दिन नित बाट जोह व्याकुल, हो जायँ न जीवन से निराश,
सुन पायँ न यदि लघु-चरण-चाप, मुरझा न जायँ होकर हताश—

ये मेरे कोमल भाव-कुसुम !
प्रिय, जाने कब आओगी तुम ?

भोली, भूली, शरमीली-सी, लघु लघु रहस्य-कलियाँ खिल खिल,
दल पर दल फैला, फैल-फूल, आशा की किरणों से हिल-मिल—

बन गईं सुकोमल भाव-कुसुम !
प्रिय, जाने कब आओगी तुम ?

मुझको इनके मुरझा जाने, मिट जाने का भय नहीं, प्राण !
बस क्षण भर हँस लें चरणों में, हो तब तक मुख-सुखमा न म्लान !

मुरझाने को ही खिले कुसुम !
प्रिय, जाने कब आओगी तुम ?

सहसा प्राची के पलक खुले, आभा-मिस फैल गई कुंकुम !
नयनों में डूब गई रजनी, हँसती आई ऊषा रुम-झुम !

है पुलक-जाल बन गए कुसुम !
प्रिय, जाने कब आओगी तुम ?

[मई, १९३८

[२३]

क्या जगत में भ्रान्ति ही है ?

एक दिन पूछा विचरती वायु से मैंने, 'कहो, क्या शान्ति भी है ?'
क्या जगत में भ्रान्ति है !

'हैं तुम्हारे विषद पथ में
नगर-ग्राम, उजाड़-उपवन,
मार्ग में घर और मरघट
महल औ' पावन तपोवन,

'तुम रमा करतीं अचल आकाश
के उर में निरन्तर,
कभी क्रीड़ास्थल बनातीं
चिर-विकल विक्षिप्त सागर,

'वायु बोला, क्या कहीं कुछ शान्ति भी है !
क्या जगत में भ्रान्ति ही है ?'

गीत मेरा सुन, स्वयम् संगीतमय हो वायु कहती,
है न जाने कौन-सा कोना जहाँ, कवि, शान्ति रहती !

'किन्तु जाऊँ, देख आऊँ,
क्या कहीं कुछ शान्ति भी है ?'

क्या जगत में भ्रान्ति ही है ?

[जनवरी, १९३७

[२४]

धीरे बह री, प्रातःसमीर ! बुझती चिनगारी जल न उठे !

रो रो कर रात बिता बिरही
सोया है क्षण भर, धीरे चल,
पंखा झल झल क्यों जगा रही
प्राची का उर-अँगार घायल ?

शीतल समीर उसको भाए, जिसका घायल उर जल न उठे !

यह वेणु-सदृश जीवन है ज्यों
झंझा-जर्जर बाँसी का बन,
दोनों में अनल समान छिपी
दोनों ही कर उठते क्रन्दन ;

मलयानिल के इन झोंकों से वह छिपी अनल फिर जल न उठे !

सुन तेरी चल पद-चाप कहीं
जागे न व्योम में भी ज्वाला,
वारिद की लपटों से जल जल
झर जाय न वह तारक-माला,

गिन जिसको कटती निशि, आकाश-कुसुम-माला वह जल न उठे !

[अगस्त, १९३७

[२५]

कल दिन में मैं कमरे में था, था चित्र तुम्हारा सम्मुख !
क्षण भर को तो दिन भर के सब था भूल गया श्रम-सुख-दुख !

सहसा सफ़ेद दीवारों पर आई हलकी सी छाया
तुम द्वार खड़ी हो, प्राण, तड़ित-सा ध्यान तुरत यह आया !

पर मुड़ कर जब देखा बाहर फिर धूप विहँस कर निकली :
मेरे मन में सुधि आई थी छाई थी रवि पर बदली !

[जुलाई, १९३७

[२६]

मेरे आँगन में एक विटप, जिस पर आ बैठी चिड़िया !
मानिक-मोती, पन्नग-नीलम, सोने-चाँदी की चिड़िया !!

मैं कैसे कह दूँ क्या थी वह, कितनी सुन्दर मनभावन ?—
ज्यों धरे मोहिनी-रूप रूप आया या चिर-आकर्षण !
फिर पञ्चवटी में सीता को हरने आता यदि रावण
मारीच इसी का रुचिर रूप जीवित हो करता धारण !
इतनी सुन्दर, इतनी सुखकर, इतनी मनहर वह चिड़िया !
मेरे आँगन में एक विटप जिस पर आ बैठी चिड़िया !!

उसकी चितवन में था प्रमाद प्रेमी के प्रणय-मिलन का,
था पुलक-पुलक में निखर रहा आह्लाद प्रथम कंपन का !
नव-यौवन के रंगीन स्वप्न साकार रूप धर आए,
ज्यों सिमट व्योम का इन्द्रधनुष आया हो पंख सजाए !
जीवन-तरु, आशा की डाली, मधु-मुकुल-सदृश वह चिड़िया !
मेरे आँगन में एक विटप, जिस पर आ बैठी चिड़िया !!

मैं उसे देखता रहा मुग्ध ज्यों दूर पड़ी मणि को फणि,
देखा करता जैसे सरोज अस्ताचल-उन्मुख दिनमणि !
मैं रहा देखता उसे, उसे, केवल उसको ही अपलक !
कैसे कह दूँ मैंने उसको कितने युग देखा, कब तक ?
पर सहसा तरु की डाल हिली, उड़ गई अचानक चिड़िया !—
विद्युत् के-से पर मार शून्य में अस्थिर सुख की चिड़िया !!

[अगस्त, १९३७

[२७]

वह कितना सुंदर सपना हो !
जो आकर मेरे सिरहाने
तुम जलता मस्तक सहला दो !

फिर बैठ पास झुक धीरे से
चूमो भीगे पीले कपोल,
पोंछो गीले पलकों को यदि,
शरमा कर फिर मुख फेर कहीं
मुख-मंडल लज्जारुण कर लो !
वह कितना सुंदर सपना हो !

घंटों बैठो यों पास, प्राण !
फिर ज्वर से जब सहसा कराह,
तुमको पुकार आँखें भर लूँ,
व्रीड़ा से आनतमुख, आँचल
से अश्रु पोंछ पीड़ा हर लो !
वह कितना सुंदर सपना हो !

[नवम्बर, १९३७

[२८]

क्या तुम्हें भी कभी आता है हमारा ध्यान ?
नाम ले लेकर हमारा, खींचता आँचल तुम्हारा क्या कभी सुनसान ?
क्या तुम्हें भी कभी आता है हमारा ध्यान ?

राह चलते कभी मुड़ कर देख उजड़े हुए खँडहर,
क्या कभी बिछुड़े हुए की याद आता तुम्हें पल भर ?
खँडहरों में घूमने वाली हवा क्या सुना जाती तुम्हें मेरे गान ?
क्या तुम्हें भी कभी आता है हमारा ध्यान ?

क्या न अब होता तुम्हारे देश में पहली तरह हर साल पतझर ?
क्या न अब बहतीं हवाएँ वहाँ पीली पत्तियों से गोद भर कर ?
हवा चलती, पत्र झरते तो न क्या दो अक्षरों का
पत्र भी लिख भेजतीं तुम, प्राण ?

याद आई, बौर से हर डाल छाई,
आम में मधु-गंध आई, याद आई,
भूल-सा जिसको गया था, बात वह फिर
कोकिला ने कह सुनाई, याद आई,
गल गया हिम, कब गलेंगे तुम्हें मुझसे छीनने वाले
कुलिश-पाषाण ?

[फ़रवरी, १९३९

[२६]

सुन कोकिल की पागल पुकार,
पूछा कवि ने, 'यह कौन ज्वाल
पक्षी-उर में ? क्या वही
लदी जिससे पलाश की डाल लाल ?'

बोली पिक, 'मैं कवि की प्रतिध्वनि !
कवि के उर में वह कौन ज्वाल
जाने, जिससे पागल है पिक,
जिससे पलाश की डाल लाल ?'

[सितम्बर, १९३७

[३०]

चाहता हूँ चित्र प्रिय का सदा सम्मुख ही रहे !
बैठ कोई पास मेरे प्रेम की गाथा कहे !
चाहता हूँ हर घड़ी, हर साँस में प्रिय नाम लूँ—
ध्यान में अपनी प्रिया के मैं सदा डूबा रहूँ !

पर हृदय उपहास कर कहता, 'यही क्या साधना ?
प्रेम-योगी का डिगाने ध्यान आती कामना !'

'चित्र उसका किस लिए, जो है सदा उर में बसा ?
हृदय जिसका शून्य सा हो वह सुने गाथा-कथा ;
भूल जाने का जिसे भय नाम वह रटता रहे ;
ध्यान जिसका भंग हो वह मग्न होने की कहे !'

हृदय यों उपहास कर कहता, 'यही क्या साधना ?
प्रेम योगी का डिगाने ध्यान आती कामना !'

[सितम्बर, १९३७

[३१]

अन्तर अब ज्वालामुखी बना
बह निकला लावा नस-नस में,
मैं विवश, आह, बह चला कहाँ ?
क्यों तन-मन आज नहीं वश में ?

जाने यह कैसी अभिलाषा
बस गई आज मेरे मन में !
जलती रहती ज्वाला बन कर
मेरे शोणित के कण कण में !

नवयौवन के गुलदस्ते में
रख दी यह चिनगारी किसने ?
मन मेरा तो छोटा-सा है
बन के बन फूंक दिए इसने !

मेरी अशान्ति का अन्त कहाँ—
मानस अथाह अस्थिर सागर !
मरुभूमि सहारा की तृष्णा
जो सीख चुकी शतशः जलधर !

उर में अभाव का भार लिए,
आँखों में कुछ अस्थिर सपने,
अवरुद्ध कंठगत प्राण लिए
गाता हूँ करुण गीत अपने !

होगा हलका न भार हिय का
चाहे निशि-दिन रोऊँ-गाऊँ !
हलका न भार होगा चाहे
पिस कर कन-कन में मिल जाऊँ !

हिम-भार हिमालय का अब तक
हलका न कर सकीं सरिताएँ,
फिर मेरे मन का दुख हलका
कर देंगी कैसे कविताएँ ?

[दिसम्बर, १९३६

[३२]

यदि होना ही है चिर-विछोह ,
दो, प्राण, यही वरदान मुझे ,
हो मुझको अपने से न मोह !
हो मन में कटुता का न भाव ,
सुधि-मधुर बनूँ, परिपूर्ण बनूँ
फिर रहे न जीवन में अभाव !

इस उपवन में आशा का तरु ,
आशा-तरु में सुख की डाली ,
यदि उससे छुट कर गिरूँ आज ,
तो गिरूँ पके फल-सा सुन्दर ,
टूटूँ न भाग्य-नक्षत्र-सदृश
मैं गिरूँ न जैसे गिरे गाज !

असफलता और निराशा की
कटुता के विष से रहूँ मुक्त ,
कच्चा रह खट्टा बने न उर !
नस-नस हो रस से सराबोर ,
दो, प्राण, यही वरदान मुझे ,
पीड़ा में पक कर बनूँ मधुर !

मैं नई सृष्टि का बीज बनूँ ,
जब गिरूँ पके फल-सा भू पर ,
पर गिरूँ न बेबस निराधार !
मैं जीवन-शक्ति न नष्ट करूँ ,

हो भ्रष्ट न कुछ मिट्टी में मिल
केवल गल जाए अहंकार!

मेरे अणु-अणु में दिव्य बीज,
जिसमें किसलय से छिपे भाव,
पर जो हीरक से भी कठोर!
टूटे यदि घन पर घन विनाश
होगा न शक्ति का ह्रास-नाश,
होगा जीवन से जग विभोर!

मैं, प्राण, प्रयोजन-मात्र बनूँ;
मैं मिटूँ किन्तु नव-विश्व बने
डस ले मुझको जब प्रगति-शक्ति!
यदि हो विछोह, तो हो न मोह;
तुममें इतनी अनुरक्ति बढ़े
हो जाय स्वार्थ से अनासक्ति!

यदि होना ही है अन्धकार,
दो, प्राण, मुझे वरदान, खुलें—
चिर आत्म-बोध के बन्द द्वार!
यदि करना ही विष-पान मुझे,
कल्याण-रूप हूँ शिव-समान—
दो, प्राण, यही वरदान मुझे!

[मई, १९३८

[३३]

मेरा घर हो नदी किनारे!

रह रह याद तुम्हारी आए
देख मचलती तरल लहरियाँ,
देखूँ जब पल भर आखें भर
कभी उछलती चटुल मछलियाँ
खुलें हृदय में नयन तुम्हारे!

मेरा घर हो नदी किनारे!!

अति लघु धनुषाकार ऊर्मियों
पर देखूँ शशि की परछाईं,
याद मुझे आएँ वे अवसर
जब तुम पास बैठ मुसकाईं,
सोचूँ, फिर दिन फिरें हमारे!

मेरा घर हो नदी किनारे!!

'कब बीते दिन फिरे किसी के?
लौटा कब बहता सरिता-जल?'
लहरों की मृदु थपक-ताल में
सुन लोरी तट-सा ही निश्चल,
सो जाऊँ फिर नदी किनारे!

मेरा घर हो नदी किनारे!!

[नवम्बर, १९३८

[३४]

ओ मृदुल लघु दूब !
छू किसके चरण, तू हो गई मरकतवरण ?

खो गया है आज मरकत रत्न मेरी कामना का,
बन गया है आज वह सुख-स्वप्न मेरी साधना का,
किन्तु तेरे मधुर उर में अंकुरित पद-चिह्न किसके ?
क्या उसीके, सुधि-विकल शुक गा रहे हैं गीत जिसके ?

कह, सरल लघु दूब !
छू किसके चरण, तू हो गई मरकतवरण ?

[सितम्बर, १९३८

[३५]

मैं वियोगी, वह उनींदी रात,
और, दोनों ओर है कुछ एक-सी ही बात !
बैठ सिरहाने अचंचल, नमितमुख, चुपचाप,
कह रही है शून्य श्वासों में हृदय का ताप;
गरजता घन, सहम जाती;
देख अपने को अकेली पास मेरे
अचक विद्युत् की चमक में झेंप जाती;
कुछ न कह पाती, सुना पाती न उर की बात,
मौन है बरसात की यह रात !
मैं वियोगी, वह उनींदी रात,
और, दोनों ओर है कुछ एक-सी ही बात !
मौन हैं दोनों, मिले दृग भी नहीं हैं,
और मन ? उसका कहीं, मेरा कहीं है !
एक शर से बिधे दो उर बँध सहज संवेदना के
सूत्र में, पर एक हैं हम !
हैं अपरिचित, किंतु जीवन-पाठ के सहपाठियों-से
एक हैं हम !
एक पथ के पथिक जो गाएँ पृथक दो गीत
पर हो एक ही सुर,
—स्नेह-करुणा से मिले यों एक हैं हम !

एक हैं हम—
रात भर दोनों जगे हैं,
स्नेह-करुणा में पगे हैं !
एक हैं हम—
मैं वियोगी, वह उनींदी रात,
और, दोनों ओर है कुछ एक-सी ही बात !

[अगस्त, १९३८

[३६]

पाँवों की हड़कल

रही दिन भर साथ मेरे,
किंतु कुछ बोली नहीं !
सोचती थी रात को ही कुछ कहूँगी,
जब न हो कोई कहीं !

कट गया दिन आज भी कल की तरह निस्सार,
रात आई, साथ लाई तिमिर-पारावार,
मग्न हो जिसमें हुआ निस्तब्ध सब संसार,
स्वप्न-बुद्बुद् उठ रहे थे, किंतु बस दो चार !

पाँव लटकाए हुए बैठा हुआ था शांत,
ध्यान में मैं मग्न था, ज्यों तिमिरमय भव क्लांत;
सुप्त जग से बहुत ऊपर उठ गई फिर दृष्टि,
भर गई नभ की विभा से शून्य मेरी दृष्टि !

क्यों जलाए हैं प्रिया ने दीप, आया ध्यान—
मुझ वियोगी के लिए भी हो सुवर्ण विहान !
पर न जाना रात भर बैठी रही वह कौन,
लिपट मेरी थकी टाँगों से अचंचल, मौन !

वृंत से ज्यों पुष्प, फिर सब झर गए नक्षत्र,
बाल रवि के अग्निशर से जल उठा सर्वत्र !
मैं न जाना, रात भर बैठी रही वह कौन,
लिपट मेरी थकी टाँगों से अचंचल, मौन !

रात भर लिपटी रही वह, था न मुझको ज्ञात,
कह न पाई बात अपनी, हुआ किंतु प्रभात !
हाय रे निष्ठुर उपेक्षा ! क्या मुझे अधिकार—
जो कहूँ मेरे लिए निष्ठुर बना संसार !

"रात भर थी पास मेरे,
किंतु कुछ बोली नहीं ?
सोचती थी, बात कैसे कहूँ अपनी
रुष्ट हो जाएँ कहीं !

[अगस्त, १९३८

[३७]

मैं सब दिन पाषाण नहीं था !

किसी शापवश हो निर्वासित
लीन हुई चेतनता मेरी।
मन-मंदिर का दीप बुझ गया,
मेरी दुनिया हुई अँधेरी !

पर यह उजड़ा उपवन सब दिन बियाबान सुनसान नहीं था !
मैं सब दिन पाषाण नहीं था !

मेरे सूने नभ में शशि था
थी ज्योत्स्ना जिसकी छवि-छाया,
जीवित रहती थी जिसको छू
मेरी चंद्रकांतमणि-काया,

ठोकर खाते मलिन ठीकरे-सा तब मैं निष्प्राण नहीं था !
मैं सब दिन पाषाण नहीं था !

था मेरा भी कोई, मैं भी
कभी किसी का था जीवन में,
बिछुड़ा भी, पर भाग्य न बिगड़ा
रही मधुर सुधि जब तक मन में,

पर क्या से क्या बन जाऊँगा, इसका कभी गुमान नहीं था !
मैं सब दिन पाषाण नहीं था !

मैं उपवन का ही प्रसून हूँ
किसी गले का हार बना था,
वह मेरी स्मिति थी, उसका भी
मैं हँसता संसार बना था,

मिले धूलि में दलित कुसुम-सा, मैं सब दिन म्रियमाण नहीं था !
मैं सब दिन पाषाण नहीं था !

मैं तृण-सा निरुपाय नहीं था,
जल में डालो बह जाए जो,
और डाल दो ज्वाला में यदि,
क्षणिक धुआँ बन उड़ जाए जो,

आज बन गया हूँ जैसा कुछ, सब दिन इसी समान नहीं था !
मैं सब दिन पाषाण नहीं था !

मेरा नाम अरुणिमा-सा ही
रहता था उसके अधरों पर
झूम झूम उठता था यौवन
मेरी पिक के मधुर स्वरों पर,

मुझमें प्राण बसे थे उसके, मेरा मृणमय गान नहीं था !
मैं सब दिन पाषाण नहीं था !

[अक्तूबर, १९३८

[३८]

यदि यों रग रग, रोम रोम में,
प्राणों में पीड़ा भरनी थी,
मुझ जैसे पाषाणों में तब
प्राण-प्रतिष्ठा ही क्यों की थी?

व्यर्थ जगादीं क्यों ठुकरा कर
सुप्त भावनाएँ पाषाणी?
इस खँडहर के मूक प्रस्तरों को
दे दी फिर से क्यों वाणी?

मेरी इस कातर वाणी को
सुनने वाला आज कौन है?
मुझसे, मेरी प्रतिध्वनियों से
ऊब, विजन भी आज मौन है!

सौंप दिया क्यों काल-रात्रि को
महाशून्य से मुझे जगा कर?
क्यों दिखलाया अंधकार यह
क्षण भर विद्युत-दीप जला कर?

बिंधी कोख से खींच लिया क्यों ?
बुझा हुआ वह अग्निवाण था !
करुणाकर ! मेरे प्राणों का
एक सहारा वही वाण था !

कहो, देव, दे दया-दान
दे डाला मुझको कैसा वैभव ?
मेरा अपना रहा-सहा था
जो कुछ, वह भी नहीं रहा अब !

[अक्तूबर, १९३८

[३६]

मैं मरघट का पीपल तरु हूँ !

घड़ी घड़ी यमदूत याम नित
घड़ी-घंट—(जिनमें सुधि का जल)-
बाँध रहे हैं तृषित कंठ में
करने आगत का उर शीतल,

पर क्या मेरी प्यास बुझेगी ?
मैं मरघट का पीपल तरु हूँ !

मेरी आँखों के सम्मुख नित
जलती हैं रंगीन चिताएँ,
कुछ में जलते स्वप्न सुनहले,
कुछ में हरी - भरी आशाएँ,

आँच नहीं आती मुझको पर
मैं मरघट का पीपल तरु हूँ !

मैंने उठतीं लपटें देखीं,
देखी बुझती जीवन-ज्वाला,
देखे मैंने नयन उमड़ते
औ' सूखी दृग-जल की माला ;

सब नश्वर, मैं ही शाश्वत हूँ,
मैं मरघट का पीपल तरु हूँ !

शाश्वत नहीं कुसुम, कलि, किसलय,
शाश्वत नहीं अश्रु या आहें,
आवागमन अनादि, बह रहीं हैं
चहुँ दिशि जीवन की राहें,

मैं ही स्थिर, भूतों का बासा
मैं मरघट का पीपल तरु हूँ !

बुझी चिताओं का मसान यह
चिर-निद्रा की निशा चिरंतन,
यहाँ अँगारों की शय्या पर
सुख से सो जाता जग-जीवन,

जग-निद्रित, मैं सजग दार्शनिक
मैं मरघट का पीपल तरु हूँ !

पत्र-पत्र पर प्रेत नाचते,
लिपटे हुए जड़ों में अजगर,
अंतर के स्तर-स्तर, पल पल पर
करते मंत्रोच्चारण हर हर,

रात जगाता मैं कापालिक
मैं मरघट का पीपल तरु हूँ !

कभी न देखी आती ऊषा,
देखीं जब, जातीं संध्याएँ
देखा है सब दिन विनाश ही
और धधकती हुई चिताएँ,

चिर-विनाश का प्रहरी हूँ मैं,
मैं मरघट का पीपल तरु हूँ !

पर चिर-निद्रा के प्रहरी को
क्या न कभी आएगी निद्रा?
कब टूटेगी भव की निद्रा,
ओ, मेरी जागृति की निद्रा?

आ, ओ काल-रात्रि की निद्रा
मैं ही वह मरघट का तरु हूँ।

मैं मरघट का पीपल तरु हूँ!!

[अक्तूबर, १९३८

[४०]

जिस खँडहर के बीच भाग्य की रेखा-सी है मेरी राह,
खा पछाड़ जिसकी दीवारों से समीर भी रहा कराह,
खड़ खड़ खड़ कर उठते पत्ते वहीं किसी पीपल तरु के—
और भयावह, और गहन हो उठती मावस काली स्याह !

डर से डब डब करते तारे देख तिमिर का सिंधु अथाह,
वह छोटी-सी जान खुसटिया, चौंक चीख़ हो गई तबाह !
अब तक डर से अडिग खड़ी थी जो पहाड़-सी काली रात,
बैठ गई है सहम चिता ज्यों बुझ जाता जब उसका दाह !

जब जब धीरज छुटने लगता ढाढस देते श्वान-शृगाल,
पथ दिखलाती, दूर क्षितिज पर जल बुझ कभी चिता की ज्वाल,
शिशिर छोड़ ठंढी ठंढी साँसें जलते कानों के पास,
कहता, 'बढ़े चलो, पथ बीहड़ है, पीछे आता है काल !'

नहीं, कुछ नहीं, केवल भ्रम है, कह लेता हूँ अपने आप,
जब शंकित हो हो उठता हूँ सुन कर अपने ही पद-चाप !
ख़ूब जानता हूँ कोई भी नहीं निकलता इस पथ से
महाशून्य औ' महामृत्यु का यहाँ हो रहा मौनालाप !

भीत चेतना को धक्का-सा लगता, होता चेत-अचेत,
तम में भ्रम होने लगता है, मैं हूँ या यह मेरा प्रेत !
'चले आ रहे हो युग युग से, थकी शिथिल टाँगें कहतीं,
क्यों न कूद जाएँ तम के सागर में हम सब सृष्टि समेत !'

आगे बढ़ा, झकोरा आया, खड़ खड़ हुई, गिरा पत्ता,
मुँह पर पड़ा, गिरा फिर भू पर, हिला गया मेरी सत्ता,
शिरा-धमनियाँ, तंतु-त्वचा सब सिहर गए थे छू जिसको
ठंढा, चिकना, तम के कर-सा था वह पीपल का पत्ता !

किंतु वहाँ यम के इस्पाती शीतल कर ने किसे छुआ ?
पल भर को मुँद गईं विश्व की आँखें उल्कापात हुआ !
गहन तिमिर का उर विदार कैसा वह ज्वालाशर निकला,
यम की प्रिया अमा यामा का या वह छूट गिरा बिछुआ ?

मुझे न देता आज दिखाई कौन बुलाती दूर खड़ी ?
राह न मेरी पूरी होती, बीती उल्कापात-घड़ी !
मैं ही एकाकी ऐसा हूँ, जिसे अभी चलना बाक़ी,
भय के तक्षक ने डस ली जो स्तब्ध सृष्टि, निश्चेष्ट पड़ी !

कवि के जीवन—बाँसों के बन—में जैसे दावा का दाह,
जिसे अभी जीना हो क्षय के रोगी का ज्यों श्वास-प्रवाह,
ऊब गया हूँ जिससे, पूरी होती हाय न जो चलते—
इस खँडहर के बीच भाग्य की रेखा-सी है मेरी राह !

[दिसम्बर, १९३८

[४१]

घड़ी घड़ी गिन, घड़ी देखते काट रहा हूँ जीवन के दिन,
क्या साँसों को ढोते ढोते ही बीतेंगे जीवन के दिन !
सोते-जगते, स्वप्न देखते रातें तो कट भी जाती हैं,
पर यों कैसे, कब तक, पूरे होंगे मेरे जीवन के दिन !

कुछ तो हो, हो दुर्घटना ही मेरे इस नीरस जीवन में !
और न हो तो लगे आग ही इस निर्जन बाँसी के बन में !
ऊब गया हूँ सोते सोते, जागें मुझे जगाने लपटें,
गाज गिरे, पर जगे चेतना प्राणहीन इस मन-पाहन में !

हाहाकार कर उठे आत्मा, हो ऐसा आघात अचानक,
वाणी हो चिर-मूक, कहीं से उठे एक चीत्कार भयानक !
बेध कर्णयुग बधिर बना दे उन्हें, चौंक आँखें फट जाएँ
उठे एक आलोक झुलसता (रवि ज्यों नभ के) वह दृग-तारक !

कुछ न हुआ ! भू-गर्भ न फूटा ! हाय न पूरी हुई कामना !
आँखों का अब भी दीवारों से होता है रोज़ सामना !
कल की तरह आज भी बीता, कल भी रीता ही बीतेगा,
बिना जले ही राख हो गई धुनी रुई-सी अचिर कल्पना !

[दिसम्बर, १९३८

[४२]

अनचाहे मेहमान प्राण मेरे, जाओ! न निकल जाते क्यों ?

सभी छोड़ कर चले गए जब,
रुके हुए किस आशा से अब,
मेरे आकुल प्राण ? छोड़ मुझको तुम भी न चले जाते क्यों ?

अपने भी हो गए बिराने,
कुछ रूठे, कुछ साथी छूटे,
सच्चे झूठे, नए पुराने
प्रेम-प्रीत के बंधन टूटे,
रहे सहे सब—नभ के तारों-से—न टूट जाते नाते क्यों ?

आज शांति से मरने का भी
क्यों मेरा अधिकार छिन गया ?
मेरी अनुमति लिए बिना विधि
किस विधि मेरे श्वास गिन गया ?
मैं न बुलाता जिन्हें, बुलाए बिना श्वास आते जाते क्यों ?

बेबस का घर समझ मुझे ज्यों
श्वास आ रहे रोक टोक बिन,
मुझ परवश का हृदय कुचलते
आए यों दुर्दिन भी सब दिन,
किंतु आज भी इस खँडहर पर गृद्ध-चील-दल मँडराते क्यों ?

श्वास और दुर्दिन आए तो,
गृद्ध-चील-दल तुम भी आओ,
बचा-खुचा जो कुछ बाक़ी है
नोंच-खसोट उसे भी खाओ!
मिला धूलि में बची अस्थियां, लो न पुण्य जाते जाते क्यों!

[दिसम्बर, १९३८

[४३]

उड़ा उड़ा-सा जी रहता है
चूर चूर विश्रांत शरीर,
दूर देश जाने को आतुर
अकुलाए-से प्राण अधीर !

जाने क्यों मुझको घर बाहर,
सब कुछ हुआ पराया आज !
छिन जिसका आधार गया हो
हूँ मैं ऐसी छाया आज !

खोया खोया मन रहता है
सोया-सा सूना संसार !
कभी कभी ऐसा लगता है
अब टूटा जीवन का तार !

[दिसम्बर, १९३८

[४४]

ठीकरा

क्यों मुझको कोई भी आकर मनचाहे ठुकरा जाता है!

उसे महत्व दिया होता, था-
अर्थहीन अस्तित्व न जिसका,
थी मेरी बिसात कितनी-सी
भला रोकता पथ किस किस का?

पथ में पड़ा हुआ हूँ, मेरा दुनिया से इतना नाता है!

पर जाओ, राही! प्रशस्त हो,
उन्नत हो पथ नित्य निरंतर,
अंधकार मिट जाय तुम्हारे
उर का, मुझसे ठोकर खाकर!

मैं टूटा, पर उससे, राही, मेरा क्या आता जाता है?

हाँ यदि मुझको ठुकराने में
चोट तुम्हें आई हो, राही!
उसे भुला देना, कर देना क्षमा
ठीकरा ही हूँ, भाई!

लोग हँसेंगे देख, तुम्हें भी किस पर आज रोष आता है!

हम तुम तो सहयोगी, राही !
कैसा रोना और भींकना ?—
मुझे धूलि बनना था पिस कर
ठोकर खाकर तुम्हें सीखना,

तुम दो दोष मुझे, मैं तुमको, यों क्या लाभ हाथ आता है ?

मदुल धूलि बन जाऊँ जब मैं
जन्म सुफल होगा तब मेरा,
आँक सके पद-चिह्न, दिखाने
पथ पथिकों को, उर जब मेरा !

इष्ट-अनिष्ट यही, ठुकराओ, अब तन मन टूटा जाता है !

टूट गया मधुघट नसीब-सा
जो, मैं उसका एक टूक था,
छलनी हुआ कलेजा जिसका
उसकी अंतिम एक हूक था,

देखो वायु ले उड़ी मुझको, अब मेरा कन गाता है !

[दिसम्बर, १९३८

[४५]

तुम मेरी भूलों को भूलो
मैं अपनी पीड़ा को भूलूँ,
बस इतना सा संबंध रहे—
तुम मुझे याद कर लो, हँस लो,
मैं तुम्हें याद कर लूँ, रोलूँ!

यह बंधन भी कितने दिन के,
जब मिट चुकी सब स्वप्न नियति!
हँसते प्रसून, रोती शबनम
खा लेगी इन दोनों को भी
भस्मक-ज्वर-सी जीवन की गति!

तुम बीती बातों को भूलो,
मैं भी उन बातों को भूलूँ,
फिर इतना भी संबंध न हो—
तुम मुझे याद कर लो, हँस लो,
मै तुम्हें याद कर लूँ, रोलूँ!

[४६]

पतझर के दिन बीत चले,
पल्लव-पुष्पों से वृक्ष भरे,
यों ही मधु के हलकोरों से
हो जाएँगे फिर बाग़ हरे!

अब मधु-माधव के दिन आए
छोड़ा अब हिम-जल ने दुराव,
आया वसंत, बदला दिगंतवासिनि
समीर का कटु स्वभाव!

पीपल की नंगी डालों पर
आ गईं पत्तियाँ लाल लाल,
पुर जाती भरते घावों पर
जैसे हलकी मृदु लाल खाल!

नव शिशु की अविकच त्वचा-सदृश
खो देंगे पत्र मृदुल लाली,
कुछ हरितपीत, फिर हरितश्याम
होगी तरु की डाली डाली!

पिक कुहुकेगी, मैं गाऊँगा—
'पल्लव-पुष्पों से वृक्ष भरे!'
वह हूक उठेगी, गाऊँगा मैं—
'भरे घाव फिर हुए हरे!'

[फ़रवरी, १९३९

[४७]

सेंमल

मधुमास स्वयं ही चला गया
आया जैसे वह अनायास !
फिर सूख गया वह सेंमल का हतभाग्य रूख,—
दो दिन बस लाल लाल कलियों के
छाए तन पर पुलक-जाल,
उच्छ्वास-सदृश अब पल पल पर
उड़ती रूखी सूखी कपास !
मधुमास स्वयं ही चला गया
आया जैसे वह अनायास ।

आया वसंत,
फिर चला गया यौवन-वसंत,
अनुभवी संत के मानस में जाने को ही आते जैसे—
(यदि भूल भटक कर आए भी)—भ्रम, काम, क्रोध ।

आया वसंत,
फिर चला गया यौवन-वसंत !
जिनमें कुछ क्षण की थी क्रीड़ा
फैले के फैले रहे, आह, वे बाहु-पाश—
सेंमल की नंगी डालों के वे बाहु-पाश,
जो फैले हैं सूने नभ में सब दिन हताश, सब दिन निराश !

मानस-मरु से जैसे अभाव के भाव लिए
उड़ती रूखी सूखी कपास !
मधुमास स्वयं ही चला गया
आया जैसे वह अनायास !

सब कली झरीं, झर गए फूल,
अंतर में कहीं कसकता है
सब दिन अभाव का एक शूल,
पुनुरुक्ति दोष से दूषित या
वह आगत की अक्षम्य भूल !
इस सेंमल का फल भी कैसा,
जिसको न गिलहरी भी खाए !
यदि खाए, मुँह में भर जाए
अनुताप-सदृश रूखी कपास, सूखी कपास !
वह सोच रहा अपलक, उदास,
क्यों जीवन के चंचल पल-सी
उड़ती जाती रूखी कपास, सूखी कपास !

क्या उस-सा ही कोई निराश, कोई उदास
होगा ऐसा विश्रांत पथिक,
यह जीवन ही बन गया जिसे अविकल प्रवास !
वह पथिक श्रांत क्या श्रांति हर सकेगा अपनी
धर शीश सुकोमल तकिए पर
संचित कर चुन चुन कर उसकी रूखी कपास, सूखी कपास !

हो गई श्याम रंगीन शाम,
अब फैल गया निस्सीम मौन,
सब विश्व मौन के सिंधु-सदृश,
बुद्‌बुद्-सा डूब गया जिसमें खगकुल-रव, जन-रव अविश्रास !

पर बचे खुचे साँसों-सी ही उड़ती जाती,
निस्सीम शून्य की लहरों पर बढ़ती जाती,
संदेश किसे देने जाती,
वह किसे सुनाने जाती है रूखी कपास, सूखी कपास।
मधुमास स्वयं ही चला गया
आया जैसे, वह अनायास !

[मई, १९३९

[४८]

तुम्हें याद है क्या उस दिन की
नए कोट के बटन-होल में
हँस कर, प्रिये, लगा दी थी जब
वह गुलाब की लाल कली!

फिर कुछ शरमा कर, सहास कर,
बोली थीं तुम, 'इसको यों ही
खेल समझ कर फेंक न देना,
है यह प्रेम - भेंट पहली!'

कुसुम-कली वह कब की सूखी,
फटा ट्वीड का नया कोट भी,
किंतु बसी है सुरभि हृदय में
जो उस कलिका से निकली!

[फ़रवरी, १९३७

[४९]

बालारुण की किरण बनूँ मैं,
दिन निकले ही आन जगाऊँ !

जब तुम स्वप्न-सेज तज जागो,
खुली अलक, अधखुले पलक हों,
पलक शिथिल हों खसे वसन-से,
अलकें फैलीं जानु तलक हों,

बालारुण की किरण बनूँ,
पुतली की कनक-कनी बन जाऊँ !

स्नान-सुशीतल शीत गात से
जब तुम वस्त्र सुखाने आओ,
फैला खुली हुई बाहों को
धुली हुई धोती फैलाओ,

बालारुण की किरण बनूँ
मृदु अंगों में कंचन भर जाऊँ !

फिर जब छत पर बैठ धूप में
आओ गीले केश सुखाने,
लंबी, पतली, चटुल अँगुलियों
से जब फैलाओ सुलझाने

बालारुण की किरण बनूँ मैं
घन में विद्युत बन छिप जाऊँ ?

तुम कंघी करने बैठो जब
छिप केशों के पास रहूँ मैं
अलकों की लहरों में डूबूँ,
उतराऊँ, बन चमक बहूँ मैं,

जूड़े में भी बँधूँ, माँग में भी
सुहाग की रेख सजाऊँ!

हँसमुख सखियाँ बात छेड़ जब
कभी खिझावें, कभी रिझावें,
मिलन-स्वप्न की पूछ कर
स्वयं हँसें औ' तुम्हें हँसावें,

किरण बनूँ; द्युति बन दाँतों की
अरुण हास अधरों पर लाऊँ!

[फ़रवरी, १९३९

[५०]

यदि इधर आना हुआ तो देख लोगी।

स्नेह इसका बुझ चुकेगा और दीपक बुझ चुकेगा!
हमें क्या, जलते रहेंगे, जब तलक कुछ भी रहेगा;
और ख़ुद बुझ जाएँगे हम, जब न अपना बस चलेगा।

तुम्हीं सोचो, क्या तुम्हारे लौटने तक
धुएँ के दो चार धब्बों के सिवा कुछ भी बचेगा?

भग्न उर-से मृत्तिका के पात्र में कल स्नेह डाला,
शाम होते शमा-सी उन अँगुलियों से दीप बाला;

आ उषा में देख लोगी, सुबह होते
शून्य के उन तारकों सा शून्य में वह जा मिलेगा!

स्नेह-दीपक का सहारा है तुम्हारा स्नेह-आँचल,
द्रौपदी के चीर से भी विशद वह स्नेह-आँचल,

कहो, उसके बिना कब तक ज्योति का कण
धुनी जर्जर रुई की इस एक रग में टिक सकेगा?

है तुम्हें अधिकार जब चाहो जला दो या बुझा दो,
तुम्हीं ने जिसको बनाया, उसे जब चाहो मिटा दो;

दी तुम्ही ने ज्योति जिसको बुझ गया यदि
दीप वह यों रूठने से, तो तुम्हें ही क्या मिलेगा?

यदि न हो विश्वास तो चाहो किसी से पूछ लेना,
मिट गए हम पर न ओठों पर कभी आया उलहना;
हम तुम्हारी याद में जल कर बुझे हैं,—
यदि कभी पूछा,—यही ख़ामोश दीपक भी कहेगा!

[मई, १९३९

[५१]

एक, हृदय की कायरता है,
और दूसरी, छलना मन की,
इन दोनों के संग-सहारे
चलती जाती गति जीवन की !

यद्यपि खप्पर लेकर घर घर
घूमा भिक्षा में जीवन भर,
कुछ न मिला, भूखा भी हूँ, पर—
साहस नहीं काल के द्वारे
जाऊँ भूख लिए जीवन की !

उसकी सर्वभक्षिणी ज्वाला,
लपटों के आतुर कर फैला,
खींच निकट, उर के समीप ला,
भर बाँहों में, भूख बुझा देगी
अतृप्त मम अंतरतम की !

कई बार सोचा, मर जाऊँ,
किंतु कहाँ से साहस पाऊँ ?
ऐसी शक्ति कहाँ से लाऊँ—
जाऊँ अपने लिए सजाऊँ
सुख की सेज अगर-चंदन की !

श्रद्धा, भक्ति, बुद्धि, बल, साहस,
स्वप्न, सत्य, आदर्श, स्नेह, रस,
गुरुजन, परिजन, द्रव्य, स्वास्थ्य, यश,
कुछ भी नहीं, किंतु आशा है—
मृग-मरीचिका ज्यों निर्जन की !

है किसका विश्वास मुझे अब,
अपनी भी परतीत नहीं जब ?
हुआ सब तरह आत्म-पराभव !
भीख माँगता अब भी, खन खन
खेल खिलाती छलना मन की !

[दिसम्बर, १९३९

[५२]

डर न, मन !
असमय घिरे घन जो,
स्वयम् हट जायँगे,
फट जायँगे,
जब विष-सदृश, वह वज्र उर का—
(किसी विधवा की अभागी कोख के जारज-सदृश ही)—
निकल उल्कापात-सा, धँस जायगा सहसा धरा में !
उपल-दल गल जायँगे !
तू डर न, मन !
असमय घिरे घन जो,
स्वयम् हट जायँगे,
फट जायँगे !

स्वप्न सुख के फिर हँसेंगे,
पूर्णिमा के चाँद-से वे
व्योम-से उर में बसेंगे !
रोम, हाँ प्रति रोम,
प्रिय के मिलन की प्रिय कल्पना में
चट पुलक बन जायँगे !
तू डर न, मन !
असमय घिरे घन जो
स्वयम् हट जायँगे,
फट जायँगे !

[दिसम्बर, १९३८

[५३]

तुम भी कपोत, मैं भी कपोत,
हम दोनों के मन, प्राण, कंठ,
भावों के मधु से ओत-प्रोत !

अब ख़त्म हुई मेरी उड़ान,
आगत-गत की नभ-शून्य परिधि,
वह देश-ज्ञान, वह कालावधि,
सब सिमट गए बन वर्त्तमान,

तुम केंद्र बने, मेरे कपोत !

जग-दर्शन के साधन अनेक
रस, रूप, वर्ण, संज्ञा अनंत,
इस विशद विश्व का कहाँ अंत !
पर आत्मा को आधार एक,
तुम वह साधन, मेरे कपोत !

तुमसे ही मेरी दिवा-निशा,
नयनों में बंदी सूर्य-चंद्र,
वाणी में ग्रह-संगीत मंद्र,
भ्रू-चाप-चकित प्रत्येक दिशा,
पर व्योम, पैर पृथ्वी, कपोत !

बस गई नीड़ में निखिल सृष्टि,
तुम ग्रीव झुका, देही समेट,
बैठी हो अब मेरे समेत,
गुप-चुप बातों में सुधा-वृष्टि,
तुम मुझमें, मैं तुममें, कपोत!

तुम भी कपोत, मैं भी कपोत,
हम दोनों के मन, प्राण, कंठ
भावों के मधु से ओत-प्रोत!

[अप्रैल, १९३९